

भारतीय संविधान का एकतरफा झुकाव



नागरिकता संशोधन अधिनियम के आसपास के हालिया राजनीतिक घटनाक्रमों ने भारतीय संघवाद के कुछ सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों का खुलासा किया है। विरोध प्रदर्शनों के तुरंत बाद विपक्षी दल शासित राज्यों ने घोषणा कर दी कि वे कानून को लागू नहीं करेंगे। केरल सरकार ने तो विधानसभा में कानून के विरोध में एक संकल्प पारित कर दिया। निःसंदेह यह संकल्प प्रतीकात्मक है, और इसका कोई कानूनी प्रभाव नहीं है। इस प्रकार के प्रस्ताव का पारित होना संवैधानिक रूप से वर्जित भी नहीं है। परंतु यह संघीय स्वरूप के अनुरूप भी नहीं कहा जा सकता।

संविधान के अनुच्छेद 256 में संसद द्वारा बनाए गए कानूनों को राज्य सरकारों को लागू करने की सलाह दी गई है। अगर राज्य सरकारें ऐसा करने में विफल रहती हैं, तो भारत सरकार को अधिकार है कि “वह राज्य सरकारों को ऐसे निर्देश दे, जिन्हें अनिवार्य समझा जाए।”

संघवाद से जुड़े यहाँ दो महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। - एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि अगर केंद्र के निर्देश के बावजूद राज्य उन्हें लागू करने से मना कर दें, तो क्या संविधान के अनुच्छेद 356 और 365 के अंतर्गत राष्ट्रपति इन राज्यों में राष्ट्रपति शासन लगाने का अधिकारी हो जाता है? इसका उत्तर हमें एस.आर.बोम्मई बनाम भारत संघ के मामले में मिलता है, जिसमें उच्चतम न्यायालय ने भारतीय संघीय प्रणाली का वास्ता देते हुए राष्ट्रपति शासन को मान्य किया था।

दूसरा विवाद पश्चिम बंगाल सरकार की गतिविधियों से उठ खड़ा हुआ है। राज्य सरकार ने अपनी वेबसाइट पर सीएम विरोधी विज्ञापन डाल दिए थे। यहाँ दूसरा प्रश्न यह सामने आता है कि क्या संसद द्वारा बनाए गए किसी कानून के विरुद्ध राज्य कोई अभियान चलाने में सार्वजनिक निधि का उपयोग कर सकता है? उच्च न्यायालय ने अपने अंतिम निर्णय में राज्य सरकार को ऐसा करने से रोक दिया है।

केंद्र में पूर्ण बहुमत की कठोर शक्ति -

भारतीय राजनीति में विपक्ष की कमजोर भूमिका के कारण बहुमत में आई एकल पार्टी को और अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। चुनावों की प्रतिस्पर्धा में हार जाने के बाद, विपक्ष से पीछे हट जाने की अपेक्षा की जाती है। यह माना जाता है कि वह जनादेश का सम्मान करते हुए सरकार को अपना काम करने दे। वह आम नागरिकों की तरह सरकार से सवाल कर सकता है या अगले चुनाव की तैयारी कर सकता है, लेकिन इसे शासन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

वर्तमान में चल रहे समय को देखते हुए कहा जा सकता है कि इस प्रकार के धुरवीकरण के दौर में, विपक्ष का हस्तक्षेप, देशद्रोह की पंक्ति में गिना जा सकता है। सत्तारूढ़ दल के क्रूर प्रभुत्व ने केंद्र में विपक्षी राजनीति के हर पक्ष को बौना बना दिया है।

छह वर्षों से विपक्ष के नेता की अनुपस्थिति (पार्टी को विपक्षी नेता के लिए कुल सीटों का कम से कम 10% प्राप्त करने की आवश्यकता होती है), तथा विभिन्न भ्रष्टाचाररोधी निकायों की नियुक्तियों में विपक्षी मत का खंडन, यह संकेत देता है कि राष्ट्रीय राजनीति किसी भी विश्वसनीय राजनीतिक जाँच के अभाव में चल रही है। यह पहली बार नहीं है। पहले भी ऐसा होता रहा है। एक तरह से यह हमारे संविधान के ढांचे में ही अंतर्निहित है।

चुनावी संघवाद -

पिछले सात दशकों में चुनावी ट्रेंड में आया बदलाव, संघवाद की कुछ अलग ही तस्वीर प्रस्तुत करता है। कुछ महीनों के अंतराल में हुए आम चुनावों और विधानसभा चुनावों में, एक ही चुनाव क्षेत्र के मतदाताओं ने अलग-अलग रूप दिखाया है। संगठनात्मक क्षमताओं से युक्त एक प्रमुख पार्टी के विरुद्ध जाकर भारतीय मतदाताओं ने दिखाया है कि वे अपने मतदान विकल्पों में संवेदनशील होते हैं।

दूसरे शब्दों में कहें, तो संघवाद केवल शक्तियों का कानूनी विभाजन नहीं है। यह लोकतंत्र और मतदाताओं को भी संघीय बना रहा है। चुनावी संघवाद का यह लोकप्रिय अवतार भारतीय लोकतंत्र की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक माना जा सकता है।

अतः राष्ट्रीय राजनीति में हारे हुये लोगों को आस नहीं छोड़नी चाहिए। संघवाद की यह खूबसूरती है कि वह उन्हें राज्यों में चुनाव जीतने और सरकार बनाने का अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार से राज्य सरकारें, केंद्र में विपक्ष के अभाव की पूर्ति कर रही हैं। इससे यह संघवाद की राजनीति बन गई है।

सीएए ने जो संघर्ष शुरू किया है, वह संघीय प्रश्न पर भविष्य के लिए एक खाका बन सकता है। अब; जबकि चुनावी संघवाद के अग्रसर होने का मार्ग तैयार हो रहा है, इस कानून से शायद यह बाधित हो जाए। जो प्रदर्शनकारी हैं, वे संविधान की संस्थापक प्रतिबद्धताओं को कायम रखने के लिए लड़ रहे हैं। विडंबना यह है कि संविधान स्वयं ही संघीय राजनीति में बाधा डालने वाला कारक बना हुआ है।

‘द हिंदू’ में प्रकाशित अग्र्य सेतिया के लेख पर आधारित। 9 जनवरी, 2020